शताब्दी निरुत्तर है! !

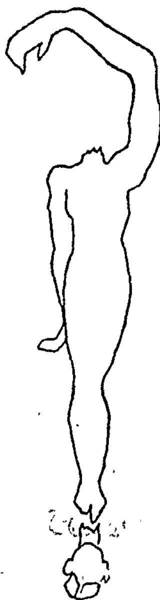
(सामयिक कविताओं का संग्रह)



SHATABDI NIRUTTAR HAI (POETRY)



राजस्थान साहित्य अकादमी, प्रकाशन उदयपुर



शताब्दी निरुत्तर है!

(सामयिक कविताओं का संग्रह)



भगवतीलाल व्यास



भारत सरकार से रियायती दर पर प्राप्त कागज
इस पुस्तक में इस्तेमाल किया गया है।

अगस्त १९७७ | प्रथम संस्करण

•

मूल्य | सजिल्द : साढे आठ रुपये
अजिल्द : साढ़े सात रुपये

•

प्रकाशक | राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर

•

मुद्रक | महावीर प्रिंटिङ्ग प्रेस, हाथीपोल बाहर उदयपुर

SHATABDI NIRUTTAR HAI (POETRY)

Bhagwatilal Vyas

प्रकाशकीय

राजस्थान के सृजनशील साहित्यकारों की कृतियों के प्रकाशन की जो योजना राजस्थान साहित्य अकादमी गत् वर्षों से क्रियान्वित कर रही है उसी शृंखला में श्री भगवतीलाल व्यास का यह काव्य संग्रह है।

इस काव्य संग्रह में कवि ने अनेक ऐसे प्रश्न बड़े सशक्त शब्दों और एक अनोखे अन्दाज में उजागर किये हैं जिनके उत्तर की तलाश वर्तमान शताब्दी के लिये एक चुनौती है। श्री व्यास एक संवेदन शील और भावना प्रवण साहित्यकार हैं अतः उनकी अनुभूति और अभिव्यक्ति का अपना निजी तेवर है।

आशा है श्री भगवतीलाल व्यास के इस काव्य संग्रह का साहित्य जगत् में स्वागत होगा।

डा० राजेन्द्र शर्मा
निदेशक

२० अगस्त ७७

अनुक्रम

३३ : किन्तु फिर भी आस्तिक हूँ
३५ : यात्रा
३८ , चरवाहा-मन
४१ : शाम : दो चित्र
४३ : जीवित कलमों की ओर से
४५ : काव्य श्रवण
४६ : अस्वीकृति
४७ : हँसी की तलाश
४८ : मैं : सनातन
४९ : मनुष्य, सूरज और रसिया
५० : एक प्रश्न--समय से
५१ : सपनों की घाटी
५१ : दीवारें
५२ : प्रवाल
५३ : मौसम के रथ का पहिया
५४ : अनावरण
५५ : आस्था
५५ : सम्बोधन
५६ : रोशनी के बीज
५७ : शाश्वत गीत
५८ : तूफान के बाद
५९ : विरोधाभास
६० : दृष्टि-अर्थ
६१ : विचारणीय
६२ : पावस ऋतु : आज के संदर्भ में

अनुक्रम

६३ : हम सब अंधेरे हैं
६४ : काष्ठ पुरुष
६६ : दो आकृतियां : विदा पर
६७ : टिटकारी
६८ : सन्नाटा
६९ : आयोजन
७० : चौराहे पर
७१ : आग की तिजारत
७२ : पूर्वाभ्यास
७३ : झुकी हुई ग्रीवा का दर्द
७५ : प्रक्रीया
७७ : अपरिवर्तित
७८ : तुम्हारा घर
८० : आश्वस्त हूँ
८२ : खून
८३ : पृथ्वी की उत्पत्ति
८७ : समझदारी
८८ : अफसोस

□

भूमिकारूप

मर गया वह
जो प्रश्न–अगारों से गली–चौराहों पर
सुबह से शाम तक खेलता था।
विंध गया एक ग्रोर
प्रश्न–धर्मी–पुत्र।
पाषाणों में कैद कर दिया गया
प्रासादों से ऊंचा हुआ–

त था ग त।

इनकी प्रशंसाएं सुन-सुन कर
चिड़चिड़ा उठा है मौसम।
मेरी पीढ़ी के
शिशुग्रों, जिज्ञासुग्रों,
ज्ञानियों ग्रौर महामनाग्रों !
रहम करो ! रहम करो !!
प्रश्न मत उछालो इस तरह–
नहीं बने ग्रभी इनके उत्तर है !
शताब्दी निरुत्तर है।

टंकते होंगे नीलवर्णी
उत्तरीय में ग्रब भी सितारे,
संभालता होगा ग्रब भी उसे

चांद सा हाथ,
मुझे सन्देह है।
पूर्वी अटारी पर नहीं सूखते हैं
मलयताल में धोये केश।
मंदिरों में शंख और घंटे और घड़ियाल
बजते होंगे अब भी,
पर कहां समर्पित होते हैं
सद्यः-उन्मूलित रक्ताभ कमल ?
और दूरागत
सयत्न रक्षित दीप को
कहां मिल पाती है दीपमाला में जगह ?
भटका किन दिशाओं में
आरती स्वर है ?
शताब्दी निरुत्तर है !

वह वक्त, पीछे, बहुत पीछे
छूट गया है
जब कई शताब्दियों के
प्रश्नों भरे आंगन को
बुहार जाती थी सिर्फ एक शताब्दी
और अब, एक, सिर्फ एक शताब्दी के
प्रश्नाकुल लिजलिजेपन को
नहीं सुखा पाते हैं
शताब्दियों के सूर्य !
बेचारे सूर्य भी
अब उतने कहां प्रखर हैं ?
शताब्दी निरुत्तर है !



भगवतीलाल व्यास

प्रार्थना

ईश्वर एक बाजीगर है
जो हमें एक क्षण करोड़ मील
दूर चमकते सूर्य को देखने की शक्ति देता है
और दूसरे क्षण–
हम से एक हाथ के फासले पर
स्थित अंधकार नहीं देखने देता।
वह हमें एक क्षण में–
सुदूर क्षितिज पर हो रहे
मेघ-गर्जन को सुनने की
क्षमता देता है
और दूसरे क्षण–
हमारे कान के पास चिल्लाती
चुनौतियों को भी
सुनने की शक्ति छीन लेता है।
सचमुच ईश्वर एक कुशल बाजीगर है
आओ, हम उससे प्रार्थना करें
कि वह हमारा दूसरा क्षण भी
पहले जितना ही समृद्ध बनायें
ताकि हम जीवन का अधिक
सौंदर्य जी सकें।

अस्तित्व बोध : दो कविताएं

एक

पिछली बार वसन्त में
जब बिना कहे कई फूल खिल गये थे
तब मुझे लगा था –
कि तुम हो।
और जब कल जोर से हवा चली
तब भी दो पांव
तुम्हारे होने के आभास का संबल लेकर
यात्रा पर निकल पड़े थे
फिर तुम जानते हो
क्या हुआ ?
वे पूरी शक्ति लगा कर भी
धरती से नहीं चिपक सके।
प्रार्थना के लिये जो हाथ उठे थे
वे उठे ही रह गये।
और आज जब हवा नहीं चल रही है
हर सुनहरी किरण उन पांवों
के शव को ठोकर लगा कर
आगे बढ़ रही है
आकाश रो नही रहा है,
अलबता कोयल फिर गा रही है
कि तुम हो.... .. तुम हो।
पर मैं कैसे मान लूं कि तुम हो।

दो

उस दिन बांसों के
अनछुए जंगल की खोखलाहट
तुम्हारा परस पाकर
सहस्त्रं वेणु निनाद कर उठी थी
तुम्हें स्मरण होगा
उस दिन मयूर ने चंदोवे ताने थे
दिशाओं ने केवल तुम्हारे शब्द बखाने थे
तब मुझे लगा था
कि तुम हो
किन्तु दूसरे ही दिन
बांस बांतयाये
आकाश उबला
और देखते देखते
मयूर अपने चंदोवे समेट कर
अज्ञात की ओर उड़ चले
दिशाओं ने शब्द निगल लिये
पर तुम कुछ नहीं कर सके
आज फिर जली हुई मिट्टी से
कुछ हरी नुकीली पत्तियां झांक रही हैं
लेकिन इससे
सिर्फ इससे
कौन मानेगा
कि तुम हो।

अलगाव और बुलन्दी का दर्द

जाने क्यों आजकल—
मंदिरों के स्वर्ण–कलश,
आंखों को चौंधियाहट से भर देते हैं
शायद वे पवित्रता काफी दे चुके हैं।
मीनारों के कंगूरे बर्छियों से
गड़ने लगे हैं
और धूप एक यतीम बच्चे सी
हर सीढ़ी पर बैठी मिलती है।
जाने क्यों आजकल
नीव के पत्थरों में कानाफूसी होने लगी है।
दीवार की दरारें सिसकियां भर रही हैं
छत को घुन लग गया है
और हर पत्थर पूजा के अप्राप्य सुख की
मादकता में खण्डहर के स्वप्नों की
अगवानी कर रहा है।
जाने क्यों आजकल
डालियों का फूलों से भरोसा हट गया है
और वे बसन्त से गंध भेजने की
शपथ माँगने लगी हैं।
किसान अपने खेत पर आये
अजनबी के स्वागत में कोई
फल नहीं तोड़ता,
हम अपने पड़ौसी को प्यार नहीं करते
हां, कभी कभी
एक औपचारिकतावश
हाथ जोड़ देते हैं
क्योंकि दिल नहीं जोड़ पाते
जाने क्यों आजकल।

याचना

एक पुंज किरणों का और
सद्योत्थित नायिका सी भोर
दे सको तो दो मुझे
ओ आत्म-हन्ता सूर्य-पुत्रों !
फिर मैं समझा दूंगा इतिहास को
प्रश्नाकुल मधुमास को,
जगती का हर रहस्य श्रव्य
इह जीवन मेघ की ऋचाएं और हव्य
दिखला द तुम मुझे
इस जलती दोपहर में
अपने में लीन छांह
औरों से क्षीण कुछ ऊपर उठी हुई बांह
फिर मैं पहुंचा दूंगा पानी आकाश को
गुदगुदा आऊंगा गुमसुम वातास को
इस बढ़ते कोलाहल बीच–
खन दूंगा मीठी सी पीड़ा के गीतों का कूप
स्वयं द्रोही इन अहम स्तूपों के बीच
चुन दूंगा मनु की पर–दुख–चिन्ता का स्तूप
एक कुंज सुमनों का और
एक और गन्धवती वायु की हिलोर
दे सको तो दो मुझे
ओ दर्पभ्रष्टा दिशा-सूनों !
फिर मैं सह जाऊंगा जो कुछ है शेष
शायद कर पाऊं ऐसा कुछ विशेष
अनुगुंजित हो जो सृष्टि के पोर-पोर
किन्तु अभी नृत्यातुर मयूरों का एक युगल और
एक और राग-तृप्त पद्मबद्ध
भ्रमर देह अचंचल विभोर।

अमृत्य के प्रति : दो कविताएँ

एक

ड्राइंग रूम में जो
तस्वीरें टंकी थी–
एक जन्म की दूसरी मृत्यु की ।
मैने तैश में आकर दूसरी
तस्वीर फोड़ दी है ।
अब मैं अपने आपको बहुत हल्का
महसूस कर रहा हूँ ।
अब केवल जन्म की तस्वीर टंकी रहेगी
हमेशा हमेशा के लिये ।
लोग मुझे ही नहीं,
सत्य का उद्घाटन करने वाले
हर हाथ को पागल समझते हैं
उसे काट देते हैं, उसे जला देते हैं ।
पर सत्य इन सब हरकतों से नहीं मरता,
वह सज़ायाफ्ता की तरह ही सही,
टंका रहता है,
हर दीवार पर, सूली पर या
और कहीं ।

दो

एक बाग़ी सूरज था,
जो स्वयं टूट रहा था
तिमिर को तोड़ने के क्रम में,
उलूकों की आंखें फोड़ने के उपक्रम में।
अंधेरे की आकृतियों ने जिसे देखकर—
अपने चेहरे रंगीन रूमालों में छुपा लिये थे।
और यहां तक कि कुछ ने तो—
उस रास्ते ही जाना छोड़ दिया था
जिधर वह अग्निपिण्ड
चिनगारियां पीकर
चिनगारियां उगल रहा था
और क्षत हो रहा था।
आज उसी रास्ते पर
पीली मिट्टी बिछवाई जा रही है
दोनों ओर लालटेनें लगाई जा रही हैं
आख़िर क्यों ?

सभ्यता

मेरा गांव
लगभग पूरा का पूरा सभ्य है,
क्योंकि भूख खाता है, प्यास पीता है।
पिछली सर्दी में भी
अधिकतर लोगों ने आग के दस्ताने भर पहनें
जब कि कुछ के पास शानदार कम्बलें थीं।
आज सब लोग चौपाल पर जमा हैं–
उस भार वाहन की प्रतीक्षा में
जिसमें इनके लिये
अन्न की बोरियां और कम्बलें आ रही हैं,
एक भोंपुई घोषणा के अनुसार
तभी एक बोला–
"भाई, अब तो सहा नहीं जाता है"
और वह सब कहा
जो खुली चौपाल पर कहा नहीं जाता है।
लोगों की राय में
वह बड़ा असभ्य था।

सन्तोष

क्षितिज का आकार–
घटते घटते इतना घट गया है
कि उसे मुट्ठी में बन्द किया जा सकता है।
सैंकड़ों मील भूमि की उपज को–
एक चौथाई कागज की पुड़िया में–
बांधा जा सकता है।
खुशबू शीशियों में और
फिनायल ड्रमों मे बिक रही है,
कोलतार की सड़कों पर फूलों की
क्यारियां लगाई जा रही हैं,
पगडण्डियां नक्शे के कागज पर
राजपथ बनाकर उतारी जा रही हैं।
मेरे युग के मसीहाओं के सुर्ख चेहरे–
अपनी उपलब्धियों से सन्तुष्ट है।
अब हमें और क्या चाहिये !

दीवार का वक्तव्य

बच्चे जब जवान हो गये हैं
बूढ़े फ्रेमों में जड़े जा चुके हैं
झकोरों से हिलने वाले पेड़
अब आंधी को हिलाने लगे हैं
वीरानों में पलेट झुक गये हैं
किन्तु शौर्य अजायबघर की वस्तु बन गई है
और समृद्धि ऐतिहासिक सत्य।
खपरैलों से छनने वाली चांदनी
अब शरबत नहीं उगलतीं,
दर्द की आकृतियां बनाती है
और आंख चांद को लाडू न समझने लगी है
मुझे भय है,
आजादी का गलत अर्थ समझाने वाले पोस्टरों!
कल की हवा कहीं
तुम्हारी चिन्दियां न उछालती फिरे।
क्योंकि बच्चे अब जवान हो गये हैं।

चौराहे पर

हममें से बहुत लोग
चौराहे पर खड़े-खड़े
दिशाबोध देने के पुण्यार्जन में व्यस्त
हाथों को दायें-बायें हिलाते हैं
दृष्टि को सड़कों पर फैलाते हैं
और समेट लेते हैं
सीटियां बजाते हैं
सलाम ठोकते हैं
कभी कभी चालान बनाते हैं
और चालान फाड़ देते हैं
यूं ही रोज़-रोज़ करके
एक खूबसूरत जिन्दगी
बिना रोशनी के भारवाहन की तरह
चुपके से गुजार देते हैं
हममें से बहुत लोग।

जिज्ञासा

दो उर्ध्वमुखी समानान्तर
खुरदरी चट्टानों के बीच
अभी-अभी उग आया फूल
अपने सामने वाली
चट्टान से पूछता है–
"सवेरा कब होगा मौसी ?"
पड़ोसिन हवा कुटिलता से
दाहिना ओठ बिचका कर कहती है–
"धीरे-धीरे सब जान जाओगे लल्ला"
मां–चट्टान डांटती है–
"अच्छे बच्चे ऐसे सवाल नहीं किया करते।'

ईश्वर की एक और तलाश

ईश्वर जिस काम के लिये होता है
उसे सब जानते हैं
मैंने भी जाना और उसे तलाशना आरम्भ किया।
जब मुझे ईश्वर मिल गया तो
मैंने भी वही किया जो सब करते हैं
याने–
उसे निरखा, परखा; छुआ और पूजा
यह क्रम चलता रहा
जीवन के एक बहुत बृहत् अंश तक
और फिर एक दिन
बाज़ार की बढ़ती हुई भीड़ में
मेरा ईश्वर कहीं खो गया
मुझ पर जैसे हिमालय क्षितिजाकार होकर झुक गया।
मैंने सूर्य बनने की तमाम आकांक्षाएं–
तब किसी अरण्य के हवाले कर दीं
और एक बार अन्धकार बन कर
फिर ईश्वर की तलाश करने
निकल पड़ा।
मुझे क्षमा करना दोस्तों !
प्रकाश की साक्षी में
दुबारा ईश्वर की तलाश
कम से कम मेरे लिए
सम्भव न थी।

चटखन

कभी-कभी ऐसा होता है
कि साथ वाले सबके सब
काफी आगे या पीछे छूट जाते हैं
और यात्रा के किसी भी छोर पर-
कोई शकुन नहीं मिलता।
तब उस अकेले के–
ठण्डे लोहे पर टिके हाथ
किसी हिंस्र पशु के पंजों की आकृति में–
बदल जाते हैं

आंखें चिनगारियां फेंकने लगती हैं
और वह अपने सिर पर उग आये सींगों को
अपने अफसर की तोंद में घुसेड़ता,
अपने लम्बे तीखे नाखूनों से–
महंगाई का चेहरा नोचता,
अपने पंजो की गिरफ्त में–
आस-पास की हवा को दबोचता हुआ
सन्तुष्ट होता है।
तभी उसे लगता है कि अफसर की तोंद में
घुसेड़े हुए सींगो से
उसके अपने बच्चे ज़ख्मी हो गये हैं

महंगाई का चेहरा नोचते हुए नाखूनों ने
पत्नी की पैबन्दिया साड़ी को
और तार-तार कर दिया है
अपने पंजों की गिरफ्त में
हवा नहीं, स्वयं उसका ही गला है।
इस अहसास के बाद
उसकी अंगुलियों में चटखन तक
शेष नहीं रहती।

आरोहण — धर्म

चढ़ो मेरे बन्धु
ऊंचे, बहुत ऊंचे
तुम्हें तो हर शृंग पर अपनी पताका गाड़ना है।
तुम्हें क्या जो लुढ़कते ही जा रहे हैं,
वे सभी पत्थर कि जिन पर पांव रख कर
चढ़ रहे हो तुम–
हमेशा की तरह ही आंख मींचे।
और उनसे हो रहे कुछ गात हैं क्षत,
माथ विक्षत
उन सभी के–जो तुम्हारे बाद
कोई शृंग छूना चाहते हैं।
(यदि बचे तो)
जरा सुन लो धर्म क्या है ?
स्वयं छूओ,
और छूने दो उन्हें भी
जो तुम्हारे साथ—
लेकिन आ रहे पीछे, बहुत पीछे।
कभी उन अंतिम क्षणों में,
जबकि तुम यह मान बैठो,
सर्वस्व सब ऊंचाइयों का निछावर है–
तुम्हारे पद तल।
मुमकिन बहुत है,
एक ऊंचाई उठाए सर,–
किसी अपराजिता-सी,
कहे 'लो अब मैं बुलाती हूँ,
क्या करोगे तुम ?
इसलिए ओ बन्धु !
चढ़ो ऊंचे, बहुत ऊंचे,
किन्तु यह भी देखते जाओ
कि कोई आ रहा नीचे, बहुत नीचे
हर चुनौती झेलने को होंठ भींचे

उपनाम

तृषा का उपनाम मत दो मुझे,
मैंने तृप्ति के सूर्य से आंखें मिलाई हैं,
टूटे हुए घुंघरुओं के उदास गुंजन में भी मेरी पायल-
चाद के बिछुओं के साथ खिलखिलाई है।
रात के काले किवाड़ों पर
मेरे परेशान स्वप्न- शिशु कभी थपकी दे आए तो क्या हुआ ?
अगर कभी-
निराश गुफाओं की हथेलियां
मेरे गीत चूम आए तो क्या हुआ ?
मेरे अतीत के पन्नों में,
बदनामी की स्याही मत उंडेलो
मेरे अनागत के टांके अभी से मत उधेड़ो
व्यर्थ की उपनाम मत दो मुझे-
मैंने अर्थ की उम्र बढ़ाई है।

प्रयत्न

मैं एक प्रयत्न हूं – खण्डित
न हो सकता सुफल मण्डित
किन्तु इसका दुःख नहीं है मुझे।
विनाश की आंधी न झेल सकीं मेरी दुर्बल भुजाएं
अभिमानी जय का ज्वार
न सह सकीं मेरी कृश शिराएं।
मेरी यह असमर्थता... अभिमान,
नहीं, स्वाभिमान–
क्यों किसी विजय– हार को सुहाए ?
किन्तु इसकी शिकायत नहीं है मुझे–
कि मैं दण्डित हूं।
मुझे यही सन्तोष है
कि मैं एक प्रयत्न हूं
भले ही मैं खण्डित हूं।

सही वक्त

रेतीले टीलों की संस्कृति वाले लोग
एक दूसरे की ऊँचाइयाँ नापते रहे
बबूल के तने से निकले हुए
गोंद के इर्द-गिर्द
कई चींटे टापते रहे
मगर भूख के इतिहास की
एक भी पंक्ति नहीं बदली।
अब शायद
बहुत सही वक्त आ गया है
जब हम
बिजली के खम्भों और
धान के पौधों की जगह
आदम कद आईने
लगाना शुरू कर दें।

युग व्याकरण के दो बोध चिन्ह

(१)

रसोइये ने घिस घिस कर–
रसोई पोंछने के बाद,
पुराना रंग भूला मसौता–
अरुगनी पर टांक दिया है
इससे टपकती हुई बूंदें
चिप्स का फर्श गन्दा कर रही हैं।
यह सोच कर कि शायद आज–
मिठाई बनेगी, बच्चे खुश हैं।
किन्तु मैं बहुत उदास हूं।
अंधेरे बोझ प्रतिक्षण–
किरणों के कन्धे दबोचने की,
नई मटकलें गढ़ रहा है।
मैं चाहता हूँ अब रोशनी बन्द रहे,
मुझे कोई आवाज न दे।
अस्तित्व इतना बौना भी हो सकता है ?
अकल्पनीय........।
बाहर जली हुई मिट्टी की गंध
और रास्तों की फिसलन से उभरती
दैत्याकार ध्वनि दौड़ने लगी है–
जो कभी रेंगा करती थी।
डूबता हुआ सूर्य–
इस सबकी निरन्तता के प्रति
एक संदिग्ध प्रश्न चिन्ह बन कर–
लटक गया है।

(२)

सड़क के किनारे लगे उन पेड़ों के पत्ते–
खनकने लगे हैं,
जिनके नाम अपनी दुरूहता के कारण
विस्मरणीय है।
इनसे कुछ रिस रहा है–
जो निश्चित ही दूध नहीं है
नीचे जो मिट्टी तारकोल से नहीं दबी है
अपना सिर उठाती है,
एक व्यसन की तरह।
हवा में अतृप्त आकाक्षा तैरती है,
जैसे वह डूबना भूल गई हो।
मुस्कान कई बार नापी जा चुकी है, यह जानते
हुए भी फिर मुस्कराने का जी करता है,
इसलिये कि आज मुझे अच्छा लग रहा है,
इसलिये नहीं कि ऐसा तुम्हें भी
अच्छा लगता था।
मेरी घ्राण शक्ति पीछे लौट कर
युगों पहले गूंथे गये गजरों
और वेणी पुष्पों की गंध आभासने लगी है।
रह-रह कर कौंधती प्रकाश रेखा में–
तुम्हारी अस्पष्ट कजराई पलकें
स्पष्ट हो उठती हैं
अब मैं आश्वस्त हूँ,
आओ हम कहीं दूर तक चलें
क्योंकि चांद आकाश में–
सम्बोधन चिन्ह सा उग आया है।

तट-धर्म

शाम की गोद में सोया हुआ अपंग सागर
हल्के हल्के बुदबुदा रहा है
लोग यहां अपने गहरे उदास क्षण
अपरिहार्य खीझ, अनिवार्य विवशताएं,
औपचारिक अभिवादन
और कुछ सूखे चुम्बन
छोड़कर भाग जाना चाहते हैं
सूरज लगभग लेट चुका है
एक ही आकृति के दो बिम्ब
बहुत फासला रख कर चलने लगे हैं
सब कुछ अपरिचित होता जा रहा है
एक दूसरे को काटती हुई
कारों की रोशनियां
चाट खाकर फेंके हुए कागज के टुकड़े
और जूड़े से निकला हुआ खोखलपन
इनका पीछा कर रहे हैं।
इन सबसे अभिनज्ञ
एक मछुआ अपनी डोंगी पर
बैठा भुंझलाता है
'अजीब गन्दगी है -
कल दूसरी जगह टटोलूंगा'-
किसी बड़े नाव का पाल मुंह फेर कर
हंस रहा है अपनी सफेद आंखों में -
और सागर अब नींद में
बड़बड़ा रहा है
'यह तट धर्म।'

तुम्हारे नहीं होने के बाद

तुम्हारे नही होने के बाद
मैं चीखा चिल्लाया या रोया नहीं।
न एक कन्धे पर मौत के
समाचार लादे–
शहर के इस छोर से उस छोर तक गया
और न दूसरे कन्धे पर लोगों की
सहानुभूतियां बिठाये घर लौटा।
बस, इसी से लोगों ने मुझे
तुम्हारी मौत का जिम्मेदार ठहराया।
कैसी अजीब बात है !
तुम तो अपनी ही मौत मरे थे न ?
फिर भी लोगों को विश्वास नहीं था,
पर तब काफी समय
हो चुका था और कुछ भी
किया जाना सम्भव न था।
इसलिए मुझे तुम्हारे शव को
छुपाना मात्र अभीष्ट था।
वही मैंने किया
घर के तमाम लोगों को
आगाह कर दिया कि वे
कुछ दिनों तक नये-नये
कपड़े पहना करें।
तुम्हारी मृत्यु-गंध को मिटाने के लिये
मकान को नये रंग– रोगन से रंगवा दिया।
तुम्हारी प्रेत-छाया से बचने के लिये
सब कहीं तेज रोशनी का प्रबन्ध कर दिया
और घर के बाहर खुली जगह को
जहां तुम बैठते थे
कटीले तारों से घिरवा दिया
सब दूर घास की कालीनें बिछवा दीं

ताकि मिट्टी में से
तुम्हारे तलवों की रेखाएं न बोलने लगे
फिर भी सन्तोष नहीं हुआ तो कहीं
गुलाब, कहीं बगन बेलियां और कहीं मोलश्री
के फूल लगवा दिये।
बच्चे तुम्हारे नाम से न डरें
इसलिये उन्हें सिनेमा भेज दिया
वयस्क लड़कियों और घर भर की
औरतों को क्लब जाने की इजाजत दे दी
जिससे बची-खुची हवा में तुम्हारा नाम
रह-रह कर न तैरने लगे।
और मैं अकेला अपने कमरे की
खिड़कियां बन्द कर
बड़ी देर तक उल्टी किताबें पकड़े बैठा रहा
फिर वे सब तसवीरें इतमीनान से देखीं
जिन्हें तुम देखने को बार बार मना करते थे।
फिर भी कैसा है यह तुम्हारा आतंक कि
थोड़े थोड़े अन्तर से मुझे
खिड़कियों पर तड़ातड़ कुछ फेंके जाने
कि ध्वनि सुनाई पड़ती है।
बाहर भीड़ का कुछ आक्रोश
तुम्हारे बारे में अटपटे सवाल उगलता है
(न जाने उन्हें किसने बताया कि तुम नहीं रहे !)
मैं कुछ समझ नहीं पा रहा हूँ
तुम्हारी मृत्यु को स्वीकारने का
मतलब है हत्या
और अस्वीकारने का मतलब है
आत्म हत्या !
मैं नही जानता था कि
तुम्हारी मौत के बाद
मैं इतना हतप्रभ हो जाऊंगा !

एक छिपकली की मौत पर

भूमिका

यूं तो कौन किसकी मौत पर रोता है
कई बड़े-बड़े नाम धारी हाथी, गेंडे
वनराज और गीदड़ मर जाते हैं
मगर जंगल उनकी मौत पर ढांढे मार-मार कर
कभी नही रोता है
क्योंकि ऐसा करने में वह कुछ पाता नहीं खोता है
तभी तो वह मौन है
सिर्फ यह कह कर कि वे उसके होते ही कौन हैं
लम्बे ऊंचे तन कर खड़े
देवदारू, चीड़, चन्दन और कदली वृक्षों पर
सूरज और चांद बारी-बारी से
रोशनी की झुरियां छोड़ते चले जाते हैं
और दूसरे दिन फिर आते हैं
झुरियां गहराती चली जाती हैं।
समय के हंसिए की धार
इन वृक्षों की नीचे उगी हुई सपनों की घास
काटती जाती है
सपनों की यह घास
गट्ठर में बंधी-बंधी किसी दुधारू पशु की
प्रतीक्षा करती है
जो इसमें से कुछ खायगा
कुछ रौंदेगा
और गोबर करेगा
कुछ लोग जो अधिक

भाग्यशाली हैं इसका दूध पिएंगे
और खुश होंगे
बाकी लोग गोबर साफ करेंगे
और दीवार पर अपने गन्दे हाथों की
छाप लगायेंगे
मगर तब
चीड़, चन्दन, देवदार और कदली वृक्षों
के सपनों की घास कहां होगी ?
शायद कही नही।
और इस तरह समय बहता चला जाएगा
समय की तेजाबी धार
हमारे अंक स्पर्श न कर सके
इसलिए हम
एकाकीपन से उपज रही
वनों की चीखें अनसुनी करके
मिलों की लम्बी-लम्बी चिमनियो में
उतर जाएंगे
और समय हमें टापू नुमा कोई चीज
बनाता हुआ हमारे इर्द-गिर्द बहता रहेगा
उसी तन्मयता से
अद्भुत और भयंकर अट्टहास करता हुआ
हम थोड़ा और दुबक जाएंगे अपने आप में
समय की तेजाब से बचने का
और उपाय भी क्या है
क्या होता है समय की तेजाब मे बच कर ?
शायद हम अलग हो जाते हैं
एक समग्र जलन से हट कर,
हम बहुत करीब हो जाते हैं मृत्यु के
तब हमें अपना सुरक्षा साधन
निरीह मालूम होने लगता है
और हम इस्पात या औजार की दीवारें
बनाने लगते है अपने चारों ओर
क्योंकि हम नहीं जानते कि

हमारे जीवन का क्या अर्थ है ?
काश हम यह ही जान पाते
कि हमारी मृत्यु का क्या अर्थ है ?
और न हम जीवन और मृत्यु के
मसले पर सोचना चाहते हैं।

कथा वस्तु

किन्तु एक दिन एक छिपकली
यही सब सोच रही थी कि
मेरे मित्र ने
उस पर लाठी का भरपूर वार किया
और वह तड़प कर तीन टुकड़ों में
बंटती हुई जमीन पर गिर पड़ी
एक प्रहार और ...
शायद मेरे मित्र को
किसी सुनी–सुनाई बात पर सन्देह था
कि छोटे जीवों में भीषण जिजीविषा होती है।
अब वह सन्देह मुक्त होकर
आराम कुर्सी पर बैठा दर्शन की बातें
कर रहा है।
जीवन और मृत्यु पर अपने
मौलिक विचार रख रहा है
और तुम (तुम नहीं आप ! मृत के लिए आदर सूचक
सम्बोधन होना चाहिए खैर, जाने दो)
छिपकली !
तुम्हारी पूंछ अब भी बड़ी तेजी से हिल रही है
जाने वह क्या प्रकट कर रही है
मेरे मित्र की व्याख्या पर
सहमति या असहमति
या फिर अफसोस !
काश ! तुमने यह सब कुछ देर पहले कहा होता
मैं अपने मस्तिष्क के अनुसार
इसी समस्या पर सोच रही थी

तुम तो मनुष्य हो न ?
तुम इन बातों पर गलत सोच ही नहीं सकते
सुनती हूं तुम्हारी जाति ने
इन दिनों बड़ा ऊचा ज्ञान प्राप्त किया है।
और तमाम मौजूद 'मानो' और
'मूल्यों' को 'पुराने' की तख्ती लगाकर
कभी न खुलने वाले तहखाने मे ढकेल दिया है
और कुछ नहीं, यदि तुम्हारा यह बोध कुछ देर पहले
श्रवण–सुलभ होता तो मै यह बर्बर मौत अपने लिए न चुनकर
कोई आधुनिक कही जाने वाली सभ्य मौत चुनती।"
फिर अपने लम्बे मूक प्रवचन पर विराम–चिन्ह लगाकर
'जो हो गया सो हो गया' वाली मुद्रा में छिपकली की पूंछ का
हिलाना बन्द हो गया
किन्तु खून और गोश्त यथार्थ की तरह
उसकी नील त्वचा आवरण को भेद कर झांकने लगा
मेरा मित्र उठकर एक कोने में थूकता हुआ पानी की एक बाल्टी
भर लाया
और क्रिकेट की 'छक्के' वाली मुद्रा में हाथ ऊपर को उठाकर
(वह क्रिकेट-कमेन्ट्री बहुत सुनता था–रेडियो पर)
पूरे जोर से
पानी को उस जगह फेंका।
मरी हुई छिपकली का समूचा शरीर उसके वेग में बहकर
दूर–बहुत दूर होते हुए नाली की राह से घर के बाहर जा गिरा
जहां मलबे और अंधेरे का ढ़ेर है
अब मेरा मित्र प्रसन्न है।
पानी अब भी छोटी–छोटी
धाराओं में बह रहा है
पानी नही समय बह रहा है
जिसने यथार्थ को एक तरफ
अंधेरे मे ढकेल दिया।
मैं अपने मित्र से पूछता हूँ
आखिर उसकी गलती क्या थी ?
एक भद्दी प्रम्परावादी गाली
उसके मुंह से निकलते–निकलते रह गई।

शायद उसे स्मरण हो आया कि वह
परम्परा-विरोधी है फिर भी
एक हल्की गाली से वाक्य आरम्भ करते हुए
उसने बताया कि वह मेरे बिस्तर पर
गिर पड़ी थी बेहूदा कहीं की
और मैं सोचता हूँ
वह सहजता में नहीं गिरी होगी
या तो वह अपने भोज्य तलाश की
व्यस्तता में या फिर प्रिय परिरमण में
आत्मविस्मृति की विवशता के क्षणों में
गिरी होगी।
हां ठीक है बिल्कुल ठीक है
मनुष्य भी तो इन्हीं दोनों स्थितियों
में गिरता है भले ही वह किसी के
बिस्तर पर न गिरे
और मुझे लगता है
छिपकली का गिरना बिल्कुल
स्वाभाविक था।
और मरना भी उतना ही स्वाभाविक
फिर अस्वाभाविक क्या है ?
उसका मार दिया जाना
हां, शायद उसका मार दिया जाना ही
सबसे अधिक अस्वाभाविक और
अविवेकपूर्ण घटना है
इसका दर्द द्विगुणित हो उठता है
क्योंकि यह एक विवेकशील आदमी
के हाथ से घटी।
उफ ! हम अपने विवेक का क्या करें
समय की तेजाबी धार ने
हमारी इन्द्रियों और विवेक को
मिलाने वाली सारी-की-सारी शिराएं काट दी हैं
और आज जब कि उस घटना को कई
दिन व्यतीत गए हैं

मैं उसे भूल जाना चाहता हूं
विस्मृति के जल से वह घाव धो देना चाहता हूं
जैसे उस दिन मेरे मित्र ने
छिपकली का मृत्यु स्थल धो दिया था
पर ओह ! जल को क्या हो गया है
विस्मृति का जल ऐसा कभी न था !
शायद इसमें भी कुछ तेजाबी बूंदें आ गिरी हैं
तभी तो घाव से छुआते ही
आराम और शीतलता के बजाय एक
चरमराहट होती है और घाव दुहर उठता है।
एक जलन और उत्पीड़न का नैरन्तर्य।
क्या किया जाय ?

उपसंहार

और यह सब इसलिये है कि
छिपकली की मौत केवल
छिपकली की मौत ही तो नहीं होती।
पर मैं उस मित्र को कैसे समझाऊं
कि ऐसी छोटी और
नामासूम मौतें
उतनी मामूली नहीं होतीं
जितनी हम उन्हें समझते हैं।
वह मेरा मित्र,
अब भी किसी छिपकली की तलाश में होगा
क्योंकि उस दिन उसने कहा था
घर भर की छिपकलियों को वह चुन-चुन कर मारेगा
मैं उसे कैसे समझाऊं कि
इतिहास कभी ऐसे कृत्यों को
मुआफ नहीं करता
मगर उसे इतिहास से क्या मतलब
वह इतिहास से काट कर बिल्कुल अलग कर दिया गया है
शायद समय की उसी तेजाबी धार द्वारा
जिसका जिक्र मैं ऊपर बहुत बार कर आया हूँ।



जो वे नहीं समझना चाहते

मित्र मेरे !

सिर्फ तुम्हारे संकेत पर दे दिये मैंने
योद्धाओं को अस्त्र-शस्त्र,
अश्वों को बढ़ने की दिशाएं
और समय
ताकि हमारे प्रशस्ति पत्र भूमि पर
दूर-दूर तक अंकित किये जा सकें।
योद्धा सच्चे थे, खेत रहे।

सिर्फ तुम्हारे कहने पर
मैंने अजनबी लोगों को
अपने खेतों के रास्ते बता दिये
अपने भण्डार– गृह की कुंजियां
और अपना वंशानुगत सिंहासन
सब दे दिया।

तुमने कहा था, ये लोग
युद्ध में खेत रहे लोगों के वंशज हैं
सब ठीक ही करेंगे
तब मुझे न जाने
क्यों तुम्हारी बात पर यकीन हो चला था।

पर यह क्या हुआ ?
दूसरे ही दिन जमा होने लगे
मेरे दरवाजे पर
कुछ बौखलाये चेहरे, टपकते आंसू
कटी हुई जेबों से झांकती अंगुलियां।

दूसरे देशों के नाम गिरवी लिखी लड़कियाँ
मैंने उन सबको डाट कर
भगा दिया
कहा, जो कहना है, उन्ही से कहो—
वे लोग समझदार हैं
सब ठीक ही करेंगे।

फिर तीसरे दिन वही
भीड़ हाथों में पत्थर
लाल-पीले तेवर
और काले झण्डे लिये जमा हुई।

पर एक आश्चर्यजनक परिवर्तन के साथ
और वह यह कि
भीड में शरीक लोग पहले वाले होते हुए भी
बौने और गंजे लगे।

मैंने पूछा– "यह सब क्या है ?"
उन्होंने बताया कि
उनके पैर इस दफ्तर से उस दफ्तर तक का
फासला तय करने में
हाथ कुर्सी-मेजों को निरन्तर प्रणाम
करते हुए
और बाल निवेदनों का गट्ठर ढोते-ढोते
घिस गये हैं।
मैंने उन्हें फिर डाटते हुए
वही फिकरा कसना चाहा–
"उन्ही से जाकर कहो ..."
कि सहसा भीड़ चिल्ला उठी–
"उन्होंने साफ-साफ कह दिया है कि

वे हमारी भाषा नहीं समझते, सच तो यह है कि वे न अ
भाषा समझते हैं न वह/वे सिर्फ आतंक की भाषा समझते हैं
अब उनसे क्या कहें ।
जी करता है भीड़ से कह दूं
कि वह भी उनकी भाषा न समझे
और मनमानी करे
या भाड़ में जाय
पर बार-बार मेरे पास न आए
क्योंकि अब मेरे पास अपना कुछ रहा ही नहीं ।

तभी तुम्हारा स्मरण आता है
और मैं भीड़ को नये सिरे से
समझाना शुरू करता हूँ
लेकिन आखिर भीड़ ही कब तक
समझती रहे
ऐसा क्या है
जो वे नही समझना चाहते ।



किन्तु फिर भी आस्तिक हूं

(१)

मन्दिरों की सीढ़ियों के सामने झुकता नही हूँ,
क्योंकि मेरी आस्था को है नही भाषा पुरानी,
जो कि मोटे धर्म-ग्रन्थों ने बखानी,
जो कि मूर्ति से बंधी हो,
जो कि पूजा से सधी हो,
जिसके प्राण में भी कुटिल पाषाण बसते हों,
कि जिसके शीश केवल विवशतावश कही झुकते हों।
कि जिसके हाथ में नाटक सुमिरिनीका और मन में पाप रमते हों।
मैं न उस भगवान का कायल
कि जो विश्वास का व्यापार करता हो,
किन्तु फिर भी आस्तिक हूँ।

(२)

शीश मेरा जब झुका भी है कभी तो,
उस नमन को कि जिसने पाषाण को भगवान की संज्ञा दिलाई,
अगरबत्ती की जलन को कि जिसने तन जला दुर्गन्ध को बाहर भगाई,
और चन्दन को कि जिसने उम्र भर पिसना किया स्वीकार
लेकिन हर अपावन भाल की महिमा बढ़ाई
धातु निर्मित उपेक्षित घड़ियाल को कि जिसने काठ की हर चोट खाकर
भक्ति की दुन्दुभि बजाई।
आरती की उस सुमन सी वर्तिका को कि जिसने हर गुलाबी सांझ घुट घुट कर बिताई
किन्तु अपने देवता को बात मन की कह न पाई
मैं न उस ईमान का कायल कि जो पराये त्याग से श्रृंगार करता हो
किन्तु फिर भी आस्तिक हूं।

कंठ मेरे करेंगे जयकार लेकिन नही उस हाथ की जो
सिर्फ झण्डा ही पकड़ना जानता है
द्वार पर बैठी अपाहिज आस्था को जो झिड़कना जानता है।
गीत मेरे भी करेंगे जयकार लेकिन उस हाथ की जो
झण्डा पकड़ने से अधिक हल मूंठ की ही पकड़ में सब पुण्य पाता है
जो न जाता गंगा स्नान को लेकिन हर नदी गंगा समझ कर सिर नवाता है।
जिसके पास इतना है नहीं अवकाश तीरथ धाम तक जाये
किन्तु जो जब मौज में आता नये तीरथ बनाता है।
जो अंधेरी रात में भी अग्नि को साक्षी बनाकर
फसल के दुश्मन भगाता है।
और रवि की रश्मियों की खंजड़ी पर बन कबीरा मस्त गाता है।
जिसके गान के आगे सभी वेदों की ऋचाएं निष्प्राण लगती हैं।
जिसके बिना यह धरती न अपनी माग मे सिन्दूर भरती है।
मै सदा इन्सान का कायल कि जो निज देश के हर
मृतिका कण से सहज ही प्यार करता हो।
मन्दिरों की सीढ़ियो के सामने झुकता नही हूं
किन्तु फिर भी आस्तिक हूँ।

□

यात्रा

उफ !
इस बार की यह यात्रा
इतनी दमघोटू और जलालतभरी होगी—
सोचा न था,
आगे, पीछे, दाएं, बाएं कही भी तो तुम नही हो,
और तुम नहीं हो तो जैसे कोई नही है
एक ओर खड़ा नंगा बेशर्म पर्वत
दूसरी ओर अनेक अपरिचित बबूल और उनके कांटे
कितना बेहूदा है यह सब
रेत न जाने किन-किन अक्षांशों से उड़कर आती है—
और कमरे में सब कहीं फैल जाती है
मै अशक्त सा देखता रहता हूँ
हटा नहीं पाता
कहां-कहां हटाऊं
यहां सब कही रेत ही तो है
वह कोई जगह नहीं होती
जहां रेत नहीं होती
अब वह सरकती सरकती
तकिये के उस कोने तक आ रही है
जहां तुम्हारा कसीदा काढा हुआ
कोई फूल खिलखिला रहा है
कुछ क्षणों के बाद यह इस रेत में
दब जायगा तब भी शायद मैं
कुछ नही कर पाऊंगा
मेरे मुंह से एक हल्की सी चीख
निकल कर रह जायगी।

— — —

हल्की रोशनी के मेनाय वाले कमरे में
खिड़की से लग कर बैठना
और अपनी पत्नी के हाथों
बनाई चाय सिप करना,
दालान में धमाचौकड़ी मचाती सन्तानों में से-
किसी एक को पुकार कर एक चम्मच और
चीनी मांग लेना
कितना भला लगता है
तब भी लोग न जाने क्यों
इस सुख को
रेल की कर्कश सीटियों
प्लेटफार्म के अर्थहीन कोलाहलों
और एंजिन के धुंए
तथा बस की फटी सीटों के हवाले कर देना चाहते हैं
क्योंकि अज्ञात दिशाओं से झांकता
स्वर्ण देशान्तर रेखाओं का मोह
उन्हें यात्रातुर कर देता है

— — —

फिर वे अनुभव करते हैं कि
वे ठग लिए गए हैं
पर तब तक यात्रा में वे इतना आगे बढ़ चुके होते हैं
कि न तो लौटना रास आता है
और न ही स्थिति को अस्वीकारना
हां वे अपनी गलतियां स्वीकार करके
खुद ही अपने आपको जलील किया करते है

मैं भी उन्हीं में से एक हूँ
बिलकुल अकेला इस बार
जैसा पहले कभी नहीं था
इसीलिए कैसा-कैसा लग रहा है ?
कुल मिला कर जो लग रहा है
वह कुछ भी तो नहीं

एक प्रपंगता भी नहीं
जिसे शब्दों की बैसाखियों के सहारे
कुछ दूर चलाया जा सके
है केवल एक ऊब भरी यात्रा का टुकड़ा
तुम्हारा अभाव
एक चेतना शून्य अवस्था का पूर्वाभास
और नंगा बेशर्म पहाड़.... रेत
अपरिचित वक्षों के वन
और इन सब के बीच
निरर्थक सा मैं।



चरवाहा-मन

आकांक्षा चौपायों को
बड़ी सुबह रेवड़ में ले गया जो घेर-घार
सूखी जमीन पर फेरफार
दिन भर की तपन पी–पिला
कण्ठों में कैद किए बेबसी, शिकायत–गिला–
सांझ पड़े
अपने ही गांव को
लौटा जो एक पुरुष
चरवाहा मन था।

– –

शिवालय की दीवारें खण्डित थीं
पदाक्रान्त परिक्रमा दण्डित थी
चन्दन ने पीटा था बुरी तरह – प्रतिमा को
अगरु ने धूल संग उछाला था चिर-संचित महिमा को
पास के खेत में सरसों के फूल थे भूलुंठित
विगत–जीवन, निस्पंद, निपट–अरक्षित
सुबकती थी खेत की उजाड़ मेड़
चीखती थी कुएं की जगत अधेड़
रिरियाते आरती के ढोल
खिसियाते आल्हा और कजरी के बोल
बस्ती के दीयों पर
बेतहाशा कोड़े बरसाता प्रभंजन था।

– –

फूस की किंवड़िया नुची हुई
जंगली पजों से
आंगन में बिखरी कुछ हड्डियां
ठुंसी हुई खूनी शिकंजों मे
'रधिया', 'रामू', 'हीरा'
जितनी दी आवाजें
अनुत्तरित लौट गई
'क्या वे सब मर गये ?'
'हां, वे सब मर गये'-
पीढियों का पहरुआ
हतप्राण बरगद खड़ा सामने
कर रहा रोदन था।

— —

तब, अब वह क्या करे ?
लौट चले फिर उन्ही सूखे चरागाहों में ?
सौंप दे अपना सभी कुछ
धरती की दरारों के लहूलुहान जबड़ों में ?
या ठूंसे बछड़ों के दूधमुंहे दांतों में
विष की पिचकारियां
और सुने मूक-विवश माताएं
(अ)काल ग्रस्त सतति की अंतिम किलकारियां
विकल्पों से विकल्पों का दारुणतम मंथन था।

— —

पर तभी किसी ने किसी के कान मे यूं कहा
अब भी मैं शेष हूँ
मे नहीं, साधारण, विशेष हूँ
संहारक नहीं, सृजेता महेश हूँ
मुझ पर एतबार करो
मेरा शृंगार करो
सुनो और, अब होगी नई भोर
सरसों के फूल इतराएँगे
आरती के बोल फिर पवन पर छितराएँगे
किंवड़िया के घाव सिल जाएंगे

धरती के हिये की दरारें पट जाएंगी
चरागाह चौखूंट रेशमी घासों से अंट जाएंगी
आवाजें अनुत्तरित ही अब न लौट पायेंगी
आल्हा और कजरी की तान साथ लायेंगी
संभलो तो, संभलो, भागो मत, टूटो मत
होकर यों वेमन
ओ मन।

— —

बोला जो निराशा की छांह से
इस तरह आशा के, आस्था के
विश्वासी बोल –
था नहीं कोई वह
पगड़ी के समीप ही खोंसा हुआ
बेडौल बांस के टुकड़े का
प्रीत भरा गुंजन था
सुन जिसे पल भर को जाने कहां खो गया
यह वही चरवाहा मन था।



शाम : दो चित्र

पहला

बिजली के फैले तारों पर
उदास उदास सी सांझ बैठ गई
क्योंकि दिन बीत गया
ज्योतिघट रीत गया
किन्तु तभी बिजली के लट्टू ने
संध्या के कान में यूं कहा—
'यूं चुप हो बैठोगी
तो यह आभा भी खो बैठोगी
उठो ! विद्रोह करो रात से
तुम उषा भले न हो
किन्तु उषा की आखिरी बेटी तो हो
रात तुम पर हावी नहीं हो सकेगी
मैं तुम्हारे साथ हूँ।'
और सचमुच संघर्ष सफल हुआ
ज्योति से अंधकार विफल हुआ।

□

दूसरा

गुलाबी परिधान
गधों के उद्यान
उर में व्यवधान
तिमिर के अपमान
लिये हुए सांझ मेरे द्वार पर ठिठक गई–
जहा उसकी पहचानी ठांव थी
तुलसी की छांव थी
किन्तु तभी दहलीज ने
संध्या के कान में यूं कहा
सूर्य आज स्वतः नहीं आयेगा
उसके लिये प्रतीक्षा व्यर्थ है
प्रयत्न ही समर्थ है
और सचमुच दूसरे दिन
वह आई सूरज साथ लिये
उसके हाथ में हाथ दिये।

जीवित कलमों की ओर से

(१)

यह सच है,
नयनों में आंसू के वट हैं
अधरों के सूख चुके पनघट हैं
अन्तर मे मरघट ही मरघट हैं
लेकिन इन सबका अर्थ नही
सब कलमें मृत हैं
अब भी कुछ जीवित हैं।
कुछ कलमें परसों बिकी कोड़ियों में
कुछ कल बिकी करोड़ों में
जिसका खाती हैं
उसी का बजाती हैं
कुछ कलमें बिध गई
अलियों में, कलियों मे, झूठी रंगरलियों में–
छलियों की घुमावदार गलियों मे
लेकिन इसका अर्थ नहीं सब कलमें भटक चुकीं।
जो कलमें पैनी थी
असत्य पर छैनी थीं
फांसी के तख्ते पर लटक गई
पर हुई कहां विगत हैं ?
अब भी कुछ कलमें जीवित हैं।

(२)

अब भी कुछ कलमें जीवित है
जो केवल आचमन कर सोती हैं
फसलों की दुर्दशा पर रोती है
मिलों के भोंपुओं के साथ-साथ जगती है

जेठ की कड़ी धूप सहती हैं
मिट्टी के ढेलों पर पसीना बन बहती हैं
बार-बार क्यारियों के इर्द-गिर्द मंडराते हाथ से कहती हैं-
"फूलों की बात दूर "
इस तरह लुक-छिप कर तिनका नहीं पाओगे,
आगे जो बढ़े तो कुचल दिये जाओगे।
सपनों की लहराती धान की बालियां
गगन चुम्बी भवनों पर मुस्कुराती जालियां
इन्हीं से मुकृत है।
सब कलमें मरी नहीं,
अब भी कुछ जीवित हैं,
जीवित हैं।

(३)

अब ये कहती हैं-
"मिट्टी को मान दो,
कुटिया के छप्पर को उषा का भान दो
झण्डा ही पकड़ो मत इतनी मजबूती से-
झण्डे के नीचे जो घुटी-घुटी सांसें हैं
उनको उत्थान दो
रुंधे-रुंधे कंठों को ऐसा सहगान दो
जो तुम भी गा पाओ
पथ ऐसे बनाओ
जिन पर तुम भी कभी आ पाओ
केवल नभचारी बन कब तक जी पाओगे ?
आखिर तो मिट्टी की शरण कभी आओगे।"
यह तो केवल तुम्हारा भ्रम है
कि तुम जो कह रहे हो, वही ठीक क्रम है
ओठों से जो लगता, कभी-कभी विष भी हो जाता है
होता वह सदा नहीं अमृत है!
मत भूलो, सब कलमें मरी नहीं
अब भी कुछ कलमें हैं-
जो जीवित हैं, जीवित हैं।

□

काव्य-श्रवण

हम किसी सराय में
ठहरे मुसाफिर से
घटनाओं और दुर्घटनाओं से नितान्त
असम्पृक्त।
सड़क पर दौडती आग बुझाने वाली
गाडी की घंटियों और
गली के मन्दिर की आरती में
बजती घंटियों में
कोई अर्थ नहीं रह गया है हमारे लिये
जब कि इन दोनों मे
एक-एक महाकाव्य पूरा हो जाता है
पर हमारा काव्य बोध
तभी चुक गया होता है
जब हमने सड़क के अंधेरे का
फायदा उठा कर
खोटी अठन्नी तांगेवाले को थमा दी थी।
पाच पैसे का सिक्का पान वाले
के सामने फेंक कर
दस पैसे के मसाले की अपेक्षा की थी
और पहली पीक थूकने के बाद
असन्तुष्ट होकर उससे उलझे थे
हम क्या महाकाव्य सुनेंगे ?
हम तो मुसाफिर है न ?
काश हम इसी नगर के होते
और इसकी मिट्टी से
जनम रहे कई-कई
महाकाव्य एक साथ सुन पाते।



अस्वीकृति

लिख तो देता फिर
हवाओं के नाम
मै कोई संधिपत्र
जरूर लिख देता
पर मृत चमगादड़ सी यह संध्या
क्यों लटक गई उदास बिजली के तारों मे ?
मकान के मकान
बस्तियां की बस्तिया
अंधेरे की झील मे क्यों डूब गई ?
रोशनी ने क्यों
काप-कांप कर
किसी बुल बुले की सी
अघोपित मृत्यु को वर लिया
दिशा विशेष की झुरझुरी
क्यो फैल गई ओर-छोर दिशाओं के
मै तो वैसे ही लिखने वाला
था संधि-पत्र
पर अब,
अब मै वह संधि पत्र कभी
नही लिखूंगा।



हँसी की तलाश

आकाश ने सन्यास ले लिया है
और धरती विधवा हो गई है
आदमी सुबह से खामोश है
और शाम तक खामोश रहेगा
कितना दुष्कर हो गया है
उषा को हंसाना
आदमी बार-बार
उसे हंसाने के संकल्प करता है
किन्तु फिर सोचता है
उसे हंसा कर भी क्या हो जायगा ?
वह सांझ से बतियाना चाहता है
और सांझ है कि अपनी नाराज़गियों
की लम्बी सूची बना कर
मुंह फुलाए उसके हाथ में थमा देती है
वह अपनी जेब टटोलता हुआ
खामोशी की झील में
सन्त्रस्तता के चप्पू चलाने लगता है
झील खत्म नहीं होती
वह हार कर चप्पू चलाना छोड़ देता है
फिर वह अनायास ऐसे टापू पर होता है
जिसने युगों से आदमी की हंसी नहीं सुनी है
ओह ! कितना अजीब है
क्या अब आदमी हंसेगा ?



मैं : सनातन

तुम नहीं कहते कि तुमको
नहीं मुझ से प्यार है
किन्तु यह भी सही, तुमको
वह सभी स्वीकार है
जो समय की धार है
इसलिए शायद हमारा साथ निभ पाये नहीं ज्यादा
क्योंकि मैंने धार के प्रतिकूल
बहने में गुजारा वक्त है आधा।
मिले थे सामने मुझको
कल तुम्हारे तिमिरवाही
दैत्य जैसी देह धारे पोत
जब कि खेता जा रहा मैं था
जर्जरित नौका जलाये एक दुर्बल जोत।
विनत अभिवादन किये मैंने
तुम्हारी ओर तक कर
पर न देखा तनिक तुमने
और बढ़ते ही रहे सत्वर
जानता हूं कल तुम्हारे पोत
पहुंचेंगे, जहां भी कूल पर
और क्षण भर में
तुम्हारे अस्तित्व का हर-कण
मोल ले लेगा किरण प्रत्येक गिन-गिन
किन्तु इससे पूर्व
अगले कूच की जंजीर खींचो,
मुड़कर देखना पीछे
वहां शायद मैं,
बहुत-बहुत मैं होऊंगा
तुम्हारा सनातन संगी
तुम्हारा सनातन दुश्मन।



मनुष्य, सूरज और रस्सियां

लोग कहते हैं—
इतिहास ऐसे पृष्ठ तक खुल कर बन्द हो गया है
जिसमें कागज़ स्याही और—
शब्द कही जाने वाली आकृतियों के सिवा,
कुछ भी नही है।
लोग उन हाथों को सुमरते हैं
जिन्होंने इतिहास को घटनाओं के साथ
अग्निमय स्पन्दन भी दिये।
लोग यह भूल जाते हैं
कि वे हाथ भी मनुष्य के ही थे
और उन फटे पृष्ठों की
चिकतियां जोड़ने लगते हैं।
इस तरह
कागज़ी युग के मसीहा बन कर
अपना अहम् तुष्ट करते हैं।
कुछ लोग शायद नया इतिहास भी लिखना चाहते हैं
पर कुछ दूसरी किस्म के लोग इन्हें
सूरज तक पहुंचने के लिये
रात दिन रस्सियां बंटने की
सलाह देते हैं
और सब लोग फिर
चिकतियां जोड़ने या रस्सियां बटने
में लग जाते हैं

□

एक प्रश्न – समय से

तुम तृप्ति हो ?
याने जटिलताओं में बसा प्यास का पर्याय।
खूब समझ लिया है मैने
तुम एक पहुंचाने वाले
काई लगे सोपान-
निरापद नहीं है।

तुम मुक्ति हो ?
याने कन्दराओं में छिपा सन्यास
दूसरे शब्दों में पुरुषार्थ का उपहास
तुम्हें पाने का रास्ता आम नही है
(आजकल लोग आम रास्ते पसन्द करते हैं)

तुम दीप्ति हो ?
याने अधकार और अंधकार के बीच
एक पारदर्शी दीवार
तुम क्या दे सकोगी इस दुर्विनीत रात को ?
जब स्वय अपने अहं से
बेवजह तमतमाई हुई हिल रही हो।

ओ समय।
क्या होगा अब उन लोगों का
जो तृप्ति, मुक्ति और दीप्ति के आकांक्षी हैं ?
क्या वे सब ऐसे ही बिना यह सब भोगे
शेष हो जाएंगे।



सपनों की घाटी

गीली हुई माटी
फिर उठी सोंधी सी महक।

मगर ठहरो,
ले न जाना कहीं इस बार भी
वह पुराना बीज
होती है धरती में
उपजाऊपन जैसी कुछ चीज।

यह न हो सौ कोस सरक जाय
हमारी सपनों की
फूलों भरी घाटी।

□

दीवारें

द्वारे-द्वारे टंकी हुई
संशय की वन्दनवारें
चाह किसी देहरी को लक्ष्य करूं
मन में संकल्प धरूं
लांघते-लांघते कमर तो झुकेगी ही
चेहरे पर उभरेंगी अप्रिय तनाव-की
दीवारें।
क्या ऐसे ही यहां के रास्ते दुधारे ?
क्या हम इन्हें नही बुहारें ?

□

सवाल

बन्द कमरों में पड़े कुछ लोग खासते हैं
कुछ पीले मुंह वाले बच्चे
सड़क पर गालियां बकते हैं
या कांच की गोलियां खेलते हैं
कुछ औरतें जो
घटते-घटते 'औरतें कम रह गई हैं
पर स्त्रीलिंग हैं
व्याकरण की लाज रखने भर को
ये औरत– संज्ञाएं
हाथ लम्बे करके छोटी-छोटी सी
बातों के लिए झगड़ती हैं
और केवल जबान से
एक दूसरे का चेहरा नोचती हुई
अपने अंधेरे घरों में अन्तर्धान हो जाती हैं
कुछ और लोग
जिनकी पेशानियों पर विगत की पीड़ा
अनागत की चिन्ता स्थूल से स्थूलतर
खरोंचे उभारती जा रही हैं,
अपने पुरखाओं, शासन व्यवस्था और
महंगाई को क्रमशः
भला बुरा कहते हुए
सड़क रौंद रहे हैं

कभी घर आ रहे हैं कभी दफ्तर जा रहे है
कभी कहवा घरों तो कभी
बासी सब्जियों के ठेलों की ओर
बढ़ रहे है
इन सबसे अलग नहीं होते हुए भी
अपने आपको
व्यवहारों और वक्तव्यों से अलग
घोषित करने वाले कुछ लोग
समय की स्लेट पर
ऐसा सवाल लिख रहे है
जिसे वे, केवल वे हल नहीं कर सकेंगे
उफ ! इस सवाल का क्या होगा ?



मौसम के रथ का पहिया

इसी जगह
हां, इसी चढ़ाव पर
निकल गया मौसम के रथ का पहिया
टूट गई अश्वों की रासें
पर रुकने के क्या माने ?
चलो यह अच्छा हुआ
नही हुई सुलह
वरना कहां होता सूर्य–
कहां होती सुबह ?



अनावरण

फोटोग्राफर की दुकान पर,
एक बड़े केन्वेस पर कोई चित्र बना है—
जिसमें नदी, इमारत, बत्तियां, बगीचा
और मोटरकार को इकट्ठी कर—
दीवार पर टांक दिया गया है।

अभी हमारे व्यक्तित्व को इन सबसे जोड़ कर—
एक चित्र खींचा जायगा
जिसे हम—
सात समन्दर पार बसे एक मित्र को भेजेंगे
(जिसने उस फोटोग्राफर की दुकान नहीं देखी है)
वह ज़रूर पुलक उठेगा
और हमारे भाग्य को सराहेगा।

किन्तु हम जो मजदूर या क्लर्क है,
कोयले की दुकान पर कोयला भरते हैं,
पेट के खातिर कालिख से दोस्ती करते हैं—
चित्र भेजने से पहले
एक निःश्वास भर छोड़ेंगे
क्योंकि हम जानते हैं—
हमारे व्यक्तित्व से नदी, इमारत,
बत्तियां, बगीचा और मोटरकार
केवल कुछ क्षणों के लिए ही जुड़ी थी—
वह भी केवल चित्र बन कर।
काश !
हमारे इस चित्र का कोई अनावरण करता।

□

आस्था

लौट गया ज्वार
नथुने फुंफकार
छोड़ गया तट पर
फेन या ज़हर।
लेकिन अब भी
कुछ नंग धड़ंग बच्चे
चुनते हैं सीपियां,
रेत में ही सही—
बनाते हैं पास-पास घर
और नहीं लगाते हैं उनमें द्वार
शायद है शेष अभी—
मनुष्य में मनुष्य का प्यार।



सम्बोधन

बार-बार तूलिका किसी अर्थवान आकृति के
जनमने से पूर्व टूट जाती है
रंग की प्यालियां भरने से पहले फूट जाती हैं
फ़लक पर जगह कम हो जाती है
दिशाएं मधु के नाम पर नमक ढो लाती हैं
मुहूर्त अपशकुन से भर जाता है।
और इस तरह गर्भस्थ क्षण
एक साथ अनेक मृत्युएं मर जाता है।



रोशनी के बीज

दिशाओं के रह उभरते दंश
ज्वार आंधी प्रभंजन का सतत बढ़ता वंश,
सागरों के अनबुहारे फर्श
गरल गया हवाओं के स्पर्श
सीपियों में कसमसाते मोतियों के प्राण
सतरण आव्हान के ये बाण
ओ अमियधर, चिरप्रवाही क्षण ?

और वह उस पार
किरण का धुंधवा रहा है गात
मत उडाओ कहकहों में
'यह जरा सी बात'
सूर्य यदि उगता नहीं तो
खुद उगो जाकर
चल चुका है तिमिर पर हल
रोशनी के बीज दो लाकर
ओ अभयधर अनलवाही क्षण !

विजय का आनन्द कैसा—
संघर्ष यदि ठनता नहीं है ?
खण्डहरों के बिना भी
इतिहास शुभ बनता कहीं है ?
चक्र चलने दो प्रलय का
हाथ साने ही रहो तुम
सृजन की नम मृत्तिका में
कौन जाने ये विधाता की नई मूरत गढे ?
कौन जाने पुण्य का अध्याय कब आकर जुड़े
भाग्य की हर पुस्तिका में।
इसलिये चौकस रहो—
ओ विनयधर, सर्जक- सिपाही क्षण।



शाश्वत गीत

सूर्य !
यह सही है कि तुम्हारी आभा तुम्हारी अपनी है।
पर यह तुम्हारा सौभाग्य है,
कि तुम मेरे देश में चमक रहे हो,
उस देश में, जिसमें—
तुम सरीखे कई सूर्य चमके हैं।
मेरा देश सनातन सूर्योदय का देश है।

नीर !
जय उचारो मेरे देश की
क्योंकि इसने तुम्हें,
गंगा की पवित्रता
और यमुना की गहन नीलिमा दी है।
तुम्हे वे क्षण दिए हैं
जिनसे तुम अनेक लीला-पुरुषों की—
जन्म भू के चरण पखार सके हो।

मनुपुत्र !
यह तुम्हारा सुकृत है
कि तुम वहां जनमे हो—
जहां आकाश आंख से काफी बड़ा है।
जहां मील के हर पत्थर पर
'वसुधैव कुटुम्बकम्' लिखा मिलता है,
जहां आकर बादल काफी उदार हो जाते हैं—
फूल अपनी गंध बांटते हैं।
और हवा गीत बन जाती है—
शाश्वत गीत।



तूफान के बाद

एक दिन
एक हिंस्र तूफान
खिड़कियों के शीशे फोड़ कर
पटों को झकझोर कर
कमरे में घुस आया
दीवार पर लगे
बुद्ध, अशोक और गांधी के
चित्रों से खूब बतियाया
पर उसकी समझ में शायद
कुछ भी नहीं आया
और जाते जाते
दूसरी ओर के कुछ शीशे
और फोड गया
तस्वीरों का मढ़ा हुआ विश्वास तोड़ गया।
जब मैंने चटखे हुए शीशों को चुना
तो एक के मुंह से यह सुना—
"तूफान सिर्फ प्रलय की भाषा जानता है
लात का भूत बात से कहीं मानता है ?"
अगले दिन मैंने
महाभारत का एक और चित्र भी वहां टाक दिया
और दरवाजे, खिड़कियां, रोशनदान
खोलकर तूफान की प्रतीक्षा करने लगा
पर अफसोस।
फिर वह नहीं आया।

□

वह अहर्निश मृत्युकामी, आत्महन्ता
वस्त्र अपने फाड़ता है
केश अपने नोचता है
क्योंकि वह यह जानता है
प्राण, केशों या कि वस्त्रों में नहीं बसते
रात बेसुध हो कि पगलाया हुआ हो दिन
घटा लेता है उन्हें अपने गिरह की उम्र से
चांद सूरज के चढे नाराज चेहरों को
और ज्यादा चिढ़ाता है
गर्व से फिर तान कर सीना
हाथ अपने उठा कर दोनों
मंदिरों या मस्जिदों, गिरजाघरों की
ओर होता है मुखातिब
और ईश्वर नामधारी वस्तु से
वह मांगता है मृत्यु का चुम्बन
दूसरे क्षण जब भरे बाजार से वह गुजरता है
साथ होते हैं सहज ही
मतिभिन्ना भीड के थोपे दिलासे
इस तरह यात्रान्त करके
वह अहर्निश मृत्युकामी लौट आता है
सदा अपनी गली
क्योंकि यह वह जानता है
इस तरह के आचरण के बिना
यह दुनियां उसे जीने नहीं देगी।

□

दृष्टि – अर्थ

कोयले की धूल उड़ी है
इतनी उड़ी है कि उसने
कपोल, बरोनियां, पलकें–
और सभी कुछ तो ढांप लिया है।
हां, पुतलियां अब भी निष्पाप
घोंसले में बैठे,
चिड़िया के बच्चों सी
कुछ टटोलती रहती है।
शायद कोई चूने की दीवार,
ताजमहल
या आटे की सफेदी।
लोग अपने आप में से
निकल कर अपने आप में
घुस रहे हैं।
कोई इस दृष्टि का अर्थ नहीं समझता,
नहीं समझना चाहता।
आदि मानव!
क्या तुम्हारे युग में भी
ऐसा ही हुआ करता था?

□

विचारणीय

हम जो ईसा के प्रशंसक हैं
गांधी के समर्थक हैं
दिन में हजार बार "गांधी ने कहा था"
और "सलीब पर लटके हुए " जैसे
पवित्र वाक्यों को जुगाली करते फिरते हैं
पर अपने मोहल्ले के किसी सुपरिचित पड़ोसी की
गाली बर्दाश्त नहीं कर सकते
जब कि गांधी ने न केवल अपने देश के एक
अजनबी की गोली बर्दाश्त की थी
बल्कि उसे हृदय से क्षमा भी कर दिया था
दूसरी ओर अपने कमरे मे
असावधानी से फेंकी गई
आलपिन पांव में चुभ जाने पर
निरपराध नौकर की सौ-सौ पीढ़ियों तक
खबर ले लेते हैं
पत्नी को अन्धा जाते का फतवा दे देते है
और मासूम बच्चों पर बिला वजह
बरस पडते हैं
जब कि सत्य यह भी हो सकता है कि
आलपिन कल रात
हमारी ही लापरवाही से फर्श पर गिर गई हो
इस तरह क्या हम गांधी को
एक दिन में हजार मौतें मरने
और ईसा को हजार बार सलीब पर
लटकने के लिए विवश नहीं करते ?
फिर भी हम सब, अपने से बाहर
ईसा के प्रशंसक और गांधी के समर्थक हैं
लेकिन विचारणीय यह है कि
सचमुच हम कितने निरर्थक हैं ?

□

पावस ऋतु : आज के सन्दर्भ में

अविश्वास की ऊमस बढ रही है,
अनास्थाओं की घटाएं उमड़-उमड़ रही हैं,
तबीयत की तंग कोठरियो में–
सीलन और बदबू का साम्राज्य है।
आकांक्षाए खोखली डाल पर–
पींगें बढा रही है।

चौराहे पर अभी-अभी बजे
राजनीति के एक घिसे-पिटे रेकार्ड
की गूंज वायु में शेष है।
सूरज को कैद कर लिया गया है।
अंधेरा भी घबरा रहा है।
यहां से हड़ताल, नारों और
विरोधों की जली हुई गन्ध लेकर–
कुछ लोग गगन पर पहुँच गये हैं।
वहा उन्होंने इन्द्र की तिजोरी पर
कब्जा कर लिया है
तभी तो यदा-कदा
दो चार पानी की बूंदें
भिखारी के प्याले में
गिरे पैसे सी आवाज करती हुई—
गिर पड़ती है।
और हम समझते हैं—
पावस ऋतु आ गई है।

□

हम सब अंधेरे हैं

(१)

हम सब अंधेरे हैं,
जो रोशनी के समन्दर को घेरे हैं।
इस समन्दर ने हमसे एक बार नहीं, दो बार नहीं,
कई बार कहा है–
कि मुझमें गोता लगाओ,
रोशनी के मोती ढूंढ लाओ
और उनकी प्रशस्ति से मेरा नाम सार्थक करो।
किन्तु हम विवश हैं–
अंधेरा हमारी देह में इस तरह व्याप गया है
जैसे नस-नस को नाप गया है
हमारी समूची काया अंधेरा बन गई है
या यूं कहें मौत का घेरा बन गई है
और फिर काया का मोह कौन छोड़ता है ?
अपने हाथ से अपना सर कौन फोड़ता है ?
किन्तु ये सब तर्क हैं— छिछले तर्क—
जो हमारी आस्थाओं को ग्रस जाते हैं
हमारे विश्वासों को डस जाते हैं
और चेतन में बस जाते हैं।

(२)

रोशनी का इतिहास बताता है
कि रोशनी बेहया नहीं है
जो बिना बुलाये मेहमान सी आ जाय
रोशनी का आह्वान करना होता है
अंधेरे को बलिदान करना होता है

लेकिन हम हैं कि यह सब नहीं चाहते
क्योंकि हमें आत्मा से अधिक
हमारी देह प्रिय है।
क्योंकि हमें मार्ग से अधिक
गेह प्रिय है।
क्योंकि हमें भविष्य से अधिक
वर्तमान प्रिय है।
क्योंकि हमें खेत से अधिक उद्यान प्रिय है
यह सब शायद इसलिए कि
वस्तुतः हम अंधेरे हैं—
जो कि रोशनी के समन्दर को घेरे हैं।



काष्ठ–पुरुष

तब की बात और थी,
अब की बात और है।
समय के हाथ में परिवर्तन की डोर है।
वह एक समय था–
जब आदमी आदमी से निर्भय था,
ईश्वर के प्रति विनीत था,
संस्कृति का गीत था।
दूसरे से मिलता तो दिल के किवाड खोल कर
दो कदम चलता तो तीसरा तोलकर
अपना खेत फलता तो चार को बुलाता था
मिलकर रोता था, बांटकर गाता था।
पर न जाने उसे कैसे वहम हो गया
कि उसके व्यक्तित्व में कोई कमी है,
"क्योंकि वह सिर्फ आदमी है।"

— — —

ग्रौर फिर वक्त बदला,
ग्रादमी हुग्रा काठ का पुतला।
चाबी से हिलता है,
उठता है, बैठता है,
झुकने की बात पर ऐंठता है।
गिर पड़ता है तो बिना ग्रफसोस किए–
फिर चल देता है।
न उसे कोई वेदना है,
न सम्वेदना है।
न उसे ग्रर्जुन की तरह कोई लक्ष्य वेधना है।
इसीलिये एक सिरे से जलता है तो–
दूसरे को खबर नही होती।
विज्ञान वाले ठीक कहते हैं,
"कुचालक में कोई लहर नहीं होती"।
उसे ग्रब ग्रास्था से कोई वास्ता नहीं,
विश्वास की भाषा वह भूल गया।
लेकिन सूत्रधार ने जब कहा–
कच्ची सी रस्सी पर झूल गया।
ग्रब उसे नही लगता कि उसके व्यक्तित्वमे–
कोई कमी है।
क्योंकि ग्राज का ग्रादमी–
सचमुच काठ का ग्रादमी है।

□

दो आकृतियां : विदा पर

फिर मैं प्रारम्भ करता हूं
'वह वड़ा वरगद का पेड़
पिछली बार हमने ईंधन के
अभाव में काट कर जला दिया था
और उसके तमाम यायावर परिन्दों की
शोक विह्वल ध्वनियां पीकर
मैं चहचहाता हूँ
'उफ ! दर्द कितने वैयक्तिक हो चले हैं'
(चहचहाहट तुम्हें अच्छी लगती थी न !)
अंत में एक बार फिर
मैं तुम्हारी यात्रा की मंगल कामना करता हूँ
और तन्दुरस्ती का ख्याल रखने की
हिदायत, नहीं,
निवेदन दुहराता हूं
सप्रयास नम वरौनियों और
खीचकर लाई गई मुस्कान से
विदा का अभिवादन करता हूँ
(तुम्हें यह सब वहुत अच्छा लगता है)
कुछ देर बाद—
जब तुम प्लेटफार्म पर नहीं होओगे
मैं पास के रेस्तरां में मित्रों के साथ
तुम्हारी घनिष्टता को—
धुओं के छल्लों में उछालता होऊंगा
क्योंकि वह मेरे मित्रों को अच्छा लगेगा।



टिटकारी

कुछ बूढ़े मरियल गधे
निःशंक भाव से
दुधियानी फसल चर रहे हैं
और हम मेड़ पर खड़े-खड़े
जोर-जोर से टिटकारियां कर रहे हैं
याने अपनी असम्पृक्तता को
कम करने का स्वांग भर रहे हैं
सच तो यह कि
उन बालियों के किसी भी दाने में
हमारे लहू का दर्द है ही नहीं
उन पौधों की जड़ तक
हमारा पसीना पहुंचा न कहीं
वरना यूं भी कभी कोई
खेत वाला—
अपने खेत को उजड़ते देखता है
और लावारिस गधों पर
डंडों और ढेलों के बजाय
शुद्ध टिटकारियां फेंकता है ?



सन्नाटा

चारों ओर सन्नाटा,
गहन उदासी के गालों पर–
रह-रह पड़ता कुटिल हंसी का तीखा चांटा।
लेकिन कोई आंख न झरती,
रूह न कंपती,
कलम न लिख पाती इतिहास विवशता का–
जड़ चेतन पर यह कैसा साम्राज्य कलुषता का ?
हर रोज बांसुरी तोडी जाती अधरों की,
हर रोज महफिलें जोड़ी जाती बहरों की।
आंसू के ज्वार बहुत तट पर
हर रोज पछाड़ें खाते हैं।
चीखों के घूंघट गली-गली–
हर रोज उघाड़े जाते हैं।
लेकिन फिर भी अचरज है
इस कोलाहल में–
यह आवाज नहीं होती है–
जो होती तो–
धरती कांप-कांप रह जाती,
अम्बर क्षमा मागने आता,
सरिताएं रुक जाती क्षण भर,
हिमगिरि का मस्तक झुक जाता।
क्या यह सच है,
वह आवाज दफन कर दी–
कुछ मौसम के ठेकेदारों ने ?
और उसी के घर से पल-पल–
निकला करता यह सन्नाटा।



आयोजन

सुनो रजनीगंधा !
सचमुच ही तुम्हारे उपवन के लोग
बड़े विचित्र हैं
रेत को पीटते हैं लाठियों से और
कोई कुछ नहीं कहता उन हवाओं से
जो रात के अंधेरे में
रेत के अनाम ठूहों को
रहस्यमय संकेत भेजती हैं
लोगों की आंख एक क्षण के लिए
तब भी नहीं खुलती जब
अमलतास और मौलश्री
आक-धतूरे से प्राणों की भिक्षा मांगते हैं।
उन्हें कोई आश्चर्य, दुःख या
आश्चर्यमिश्रित दुःख नहीं होता
जब गुलमुहर के ओठ काले पड़ जाते हैं
या कोई गुलाब
भागते हुए जुलूस के
आक्रोशी कदमों से
रण ठानता है।
फिर न जाने क्यों लोगों को
बुखार की तरह
श्रद्धा चढ़ती है
और वे किसी एक की मृत्यु
घोषित करते हुए
विशाल शोक सभा-आयोजन
की तैयारियां शुरू कर देते हैं।



चौराहे पर

कल इस चौराहे पर
तरह-तरह के लोग
समूह वाचक संज्ञा बन कर
पलकों पर टूटा हुआ
आकाश लिये जमा थे
उस नेता की प्रतीक्षा में,
कहते है, जिसके भाषण मात्र से
आकाश की दरारे पट जाती हैं
कागज के फूल शोख हो उठते है
और जाने क्या-क्या हो जाता है।
'तो मै कह रहा था ....'
लोगों के हाथ अतिरिक्त उत्साह से
हिल रहे थे
और उनके मुँह कई बार
जयकार की जुगाली कर चुके थे।
आज भी इस चौराहे पर
लोग जमा हैं
लगभग वे ही लोग।
युद्ध से लौटी हुई एक पूरी युनिट
गुजर रही है उनके सामने से
वाहनो मे बचा हुआ राशन,
टूटा हुआ सरंजाम
किन्तु साबुत हौंसला सवार है।
चौराहे के गले मे
टॉन्सिल उभर आये हैं और
वह कोई जय ध्वनि नही कर रहा है
इस बार।

लोगों की फटी-फटी आखें एक
असम्पृक्त भाव मे मिलती है
वाहनों में सवार जवानो की आंखों मे
और वहां लिखी बेशुमार कहानियों को
बिना पढ़े लौट आती है।
मेरे देश के बालकों ने अब तक
नेताओं के चित्रों वाली किताबें पढ़ी हैं
कब पढ़ेंगे ये जवानों की आंखों में
लिखी कहानियां
और कब चौराहे पर जमा भीड़
जवानों की जय बोलना सीखेगी ?



आग की तिजारत

भूमि तो नहीं हूं मै
न हूं आकाश
कुछ न होते हुए भी
जितना जाना है,
वह यही कि
इस देश में
आग की भी
तिजारत होती है
आग—काली, पीली,
नीली और सफेद
एक ही दुकान पर
बिकती देखी है मैने
कितना बदनसीब होता है
सवेरा यहां का
कि इकतारे पर
गूंजता गीत
अपने आपको टोकरी में बंद कर
बिकने निकल जाता है
हर दिन।



पूर्वाभ्यास

कितने दुःख की बात है
कि हम
जिन्दगी जैसी बड़ी दुर्घटना के सामने
मृत्यु जैसी छोटी दुर्घटना का
मुँह बना-बना कर
वर्णन करते हैं
अपने ही मरने की
घोषणाए करते नही अघाते
या फिर रह-रह कर
हवा मे इश्तहार चिपकाते हैं
और चाहते हैं कि
शहीदों की जो सूची
तैयार हो रही है, उसमे
हमारा नाम भी अंकित कर लिया जाय।
आश्चर्य है, लोग
सचमुच की सवेदनाएँ
प्रकट करते हैं
दुहाई देते हैं
उस व्यवस्था की जो
उन्ही द्वारा निर्मित है
और आश्वासन के फूल
इकट्ठे करने लगते हैं
हमारी शव-यात्रा में बिखेरने
के लिए।
यह सब हो जाता है एक
सुनियोजित पूर्वाभ्यास
की तरह।

□

झुकी हुई ग्रीवा का दर्द

तुमने मुझसे मेरा चेहरा माँगते समय कहा था—
तुम उसे चेहरों की एक बहुत बड़ी
नुमाइश में रखोगे।
साफ़ जाहिर था कि
तुमने मेरे चेहरे की कीमत आँक ली थी
और तुम्हारी बात से मुझे भी कुछ
आश्वस्तता और आत्मगौरव का आभास हुआ था।
यद्यपि नुमाइश में मेरी कभी कोई
दिलचस्पी नहीं रही
पर चाहता था कि अधिक लोग
मुझे पहचानने लगें
यह ज्ञान भी धीरे-धीरे हो चला था कि
अधिक पहचाना जाने के लिए
नुमाइश से बेहतर कोई
विकल्प नहीं हुआ करता।
बस, इसीलिए ऊपरी तौर पर कुछ
हिचकिचाते हुए भी
अपना चेहरा तुम्हें सौंप दिया।
फिर न जाने क्यों तुम्हें
मेरी नाक कुछ चपटी और
पिचकी हुई लगी
तुमने उसे तराश कर सीधी और
नुकीली बना दिया
मेरी आँखें तुम्हें छोटी और
गड्ढों में धँसी हुई लगी
तो तुमने पपोटों को चीर कर
उन्हें बड़ी लगने जैसा कर दिया।

मेरे ओठ और जबड़ा,
मेरी ठुड्डी और गाल
यहाँ तक कि मेरा ललाट
तुमने किसी को नहीं बख्शा।
काट छाँट कर मेरे चेहरे को
नुमाइश के या प्रकारान्तर से
अपने अनुकूल बना ही लिया।
और कल जब मैंने वह
नुमाइश देखी तो उसमें मुझे
अपना चेहरा कहीं दिखाई नहीं दिया।
हाँ, एक चेहरा रह-रह कर
अर्थगर्भित मुस्कुराहट के साथ
अतिरिक्त नुमाइशी अंदाज में
बड़ी देर तक दर्शकों के सामने
अपने आपको प्रस्तुत करता रहा।
उसकी इन असाधारण हरकतों से
मेरा संशय प्रबल हुआ
और मैं एक बार फिर
दर्शकों की कतार में होता हुआ
उसके सामने जा पहुंचा।
मुझे देख कर उसने ओठ बिचकाये
और उलटा घूम गया।
अब मुझे उसकी जगह पर एक
खास कोण पर झुकी हुई
केवल ग्रीवा दिखलाई देने लगी
जैसी आजकल आम
आदमियों की होती है।
सवाल यह नहीं है
कि तुमने मेरे चेहरे में
परिवर्तन क्यों किये,
सवाल यह भी नहीं है कि
मुझे देख कर मेरा
अपना ही चेहरा

उलटा क्यों घूम गया,
सवाल फिलहाल
सिर्फ इतना ही है कि
उस झुकी हुई ग्रीवा का दर्द
तुम तक कैसे पहुंचाया जाय ?

□

प्रक्रिया

लोग शायद ठीक ही कहते हैं कि
सत्य जड़वत्
भूमि मे दूर-दूर तक
फैला रहता है।
तना, पत्तियाँ, फूल या फल देख कर
जड़ का अनुमान
सब कोई तो नही लगा पाते !
कभी-कभी बहुत मोटे तने के
पेड़ की बड़ बहुत सतही
तो कभी ठीक इसके विपरीत भी होता है।
मैं बार-बार दिशाओं से
पूछता हूँ—
इस ज़मीन पर आँधियां चलनी
बन्द क्यों हो गई है
वर्षों से ?
पर निरुत्तरा दिशाओं की आंखें
बुझी लालटेन सी
सफेद आसमान पर टँग जाती हैं,
और उस अकेले राहगीर को
एक शूल-वन के यात्रान्त पर
तख्ती लगी मिलती है।
दूसरे शूल-वन की

राहगीर के गले में अटकी
सिर्फ एक अदद प्यास
खून के घूँट में बदल जाती है
तभी उसे लगता है
कुछ लोग
पानी की बाल्टियाँ लिए उसकी ओर
बढ़ रहे हैं
और वह खून की घूँट थूक देता है।
ये लोग राहगीर की मूर्खता पर
ठहाका लगा कर
अपने-अपने हाथों की बाल्टियाँ
अपने ही हलकों में उड़ेल कर
दीवानगी ओढ़े हुए
शहीदों के गीत गाने लगते हैं।
जिनका बेमानीपन मुझसे पूछता है—
इस ज़मीन पर आँधियाँ चलनी
बन्द क्यों हो गई हैं
वर्षों से ?
मैं यही प्रश्न अनुर्वरा दशाओं में
फेंक देता हूँ
दिशाएँ फिर उसी तरह
आकाश ताकती हैं
राहगीर फिर अपनी
प्यास खून के घूँट में
बदलने का इन्तज़ार करता है
और फिर-फिर वही
प्रक्रिया दुहर जाती है
याने एक और छलना
सत्य में सँवर जाती है।



अपरिवर्तित

ज़िन्दगी एक बियाबान से
दूसरे बियावान तक आ गई
मगर अफसोस, मौसम नहीं बदला।
रगों और आकृतियों से भरी सुबह
बीमार हवा की साड़ी
मूँज की अलगनी पर सुखा कर
निश्चिन्त हो गई
किरनें मटकती रहीं
मोटे पर्दे वाली खिड़कियों के
शयन-कक्षों में
अजन्ता और एलोरा,
कोणार्क और ताज
समुद्र मन्थन और मत्स्य धर्मी आँखें
प्रताड़ती रहीं
एक फटे ओवर कोट को।
बालों में टँगा गुलाब
दिन ब-दिन गहरता गया
धुँधलाये आईने से अपने
होने की तस्दीक माँगता हाथ
फैलता ही गया
मगर आईने को सगमरमर
न होना था,
न हुआ।

— — —

कथाएँ विवर से
महाविवर तक की यात्राएँ
करती रहीं

और एक पात्र रोक दिया गया
एक दरवाजे पर
किसी ने कुछ नहीं छोड़ा
पुष्प और अक्षत
वस्त्र और नैवेद्य
फल और मुद्राएँ
केवल अंगुलियाँ शटकारी गईं
अदेह की तृप्ति के लिए
इतना नाकाफी होता है ?
जिन्दगी एक और वियाबान से
किसी और दूसरे वियाबान तक
जाए तो चली जाए,
मौसम नहीं बदलेगा।
नहीं बदलेगा क्या ?

□

तुम्हारा घर

मेरे रोम-रोम में
बो दिया गया एक महावर का पेड़
और उस पर कुण्डली मारे
बैठा सर्प।
यही क्या कम है कि मैं
उस सड़क की काफी दूरी
पार कर आया हूँ
जिसके किनारे कहीं तुमने
बिजली के खम्भे के नजदीक
अपना घर बतलाया था।

— — —

लोग बड़ी तेज रफ्तार में
चल रहे थे
या फिर मोटरें चला रहे थे
रास्ता बतलाने का अवकाश
किसी के पास न था
और होता तब भी वे केवल
बिजली के उस खम्भे को
संकेत भर सकते थे
जिसे मैं पहले से जानता हूँ

— — —

मैं यह भी जानता हूँ कि
इस तरह के खम्भे
अक्सर अपने से आगे वाले को
संकेत कर खामोश हो जाते है
यह क्या हो गया है सबको ?
इस तरह भी तुम्हारा घर
खो सकता है
सोचा न था
ये लोग धीरे क्यों नहीं चलते
तेज मोटर चलाने वालों के
गन्तव्य कही भाग तो नहीं रहे ?
मुझे रास्ता बताने के बाद
कहीं बिजली के खम्भों को
गिर पड़ने का भय तो
नही है ?
या फिर ऐसा तो नही है कि
तुम्हारा घर ही
इन सबके लिए
एक आशंका हो।

□

आश्वस्त हूँ

यह मेरी आस्था का प्रश्न है—
नितान्त स्वास्था का कि मै
बुद्ध को काशाय वस्त्र पहनाऊँ या
वेणु बजाने को दूँ
अर्जुन के हाथ में गाण्डीव दूँ
या मशीन का पहिया
सुकरात को विपपान के लिए
बाध्य करूँ या
ऐथेन्स का महामत्री नियुक्त करूँ।
तुम नही रोक सकते मुझे,
तुम्हारा काम सिर्फ इतना है कि
अपने गद्दीनशीन इन्द्रधनुप पर
आकाश साफ होने तक
थिगलियाँ लगाते रहो
पाले रहो यह भरम भी कि
तुम्हारा जिरह बख्तर काफी
मज़बूत है।
तुम नही समझोगे,
कभी नहीं समझोगे कि
सृष्टि क्या है !
तुम्हारे लिए वह एक
जेब क्तरों की जमात से
ज्यादा कुछ हो भी नही सकती
पर मै जो सृष्टि का भोक्ता हूँ,
जानता हूँ कि वह क्या है !
और इसीलिए मुझे आश्चर्य नहीं होता
जब तुम्हारे पालतू

बुड्ढे कुत्ते मुझ पर
बिला वजह भोंकते हैं।
यह मेरे विश्वास का प्रश्न है
इसमें कोई कर ही क्या सकता है,
कि तुम्हारे झुर्रियों भरे चेहरे में
मुझे कोई अतीत दिखाई नहीं देता
न गुनाह कबूलती आंखों में
कोई भविष्य।
और वर्तमान ?
वर्तमान न अतीत होता है न भविष्य
वह होता है गतिशील
मशीन का पहिया
जिसके लिए वेणु का अस्तित्व
बाँस की कुछ खपच्चियों से
अधिक नहीं होता
और काशाय वस्त्र का उपयोग
केवल उसका कीट पोछने के लिए
किया जा सकता है।
मैं अच्छी तरह जानता हूँ
सुकरात के हिस्से का विष कोई
दूसरा नहीं पीता
और तुम अच्छी तरह जान लो कि
कीमत चुका कर लिखवाया गया
शिलालेख अधिक दिन नहीं जीता।

□

खून

नही, कही कुछ नहीं।
सब सुरक्षित है
कही कोई जख़्म नही है
यह सही है।
फिर भी मेरे आँगन में
खून फैला है
मेरा ही खून
मेरा जिस्म गवाह है।
मैं रात जब रोया था तो
चाँद खिडकी से झाँक रहा था
और नदी के तट पर
तने खजूर ने कहा था–
'सो जाओ निश्चिन्त हो कर,
कही कुछ नही होगा।'
पिछली रात न जाने
कौन कर गया यह सब ?
कही कोई जख्म नहीं है
मगर खून बह जाने के
बाद की रिक्तता है
पोर–पोर में
जाहिर है कि खून जो बहा है
वह मुझी में से बहा है,
यह बात दूसरी है कि
घाव किसी और को हुआ है।

□

पृथ्वी की उत्पत्ति

'क' जब बालक था
तब कहा करती थी उसकी दादी
कि पृथ्वी की उत्पत्ति कैसे हुई
और वह किस पर टिकी हुई है ?
एक कमल पुष्प, क़छुआ और
सहस्रमुखी सर्प
इतना ही मूर्त हो पाया था
उसके मस्तिष्क मे।

— — —

'क' जब विद्यार्थी था
उसने भी पढ़े थे आम विद्यार्थियों की तरह
अजीबोगरीब सिद्धान्त
पृथ्वी की उत्पत्ति के
और वह केवल इतना ही याद
रख पाया था कि
प्रज्ज्वलित अग्नि-पिण्ड को
बुझना होता है
और फिर निरन्तर
अपनी ही कीली पर
घूमते हुए अपनी कक्षा में भी
घूमना होता है
पृथ्वी बनने के लिए
सारांश-
आग, पानी, राख
घूमना और घूमना।

— — —

'क' और कुछ बड़ा हुआ
अपने पैरों पर खड़े होने के
उपक्रम में गिरा और तब
उसे लगा कि
पृथ्वी सचमुच घूमती है
यह अनुभूत सत्य था
उसकी शिक्षा सफल हुई।
लेकिन उसकी कीली कहाँ गई ?
अब किस पर घूमे वह ?
कीली की तलाश में वह
दर-दर फिरा
लोगों ने समझा उसे
उठाईगिरा
और ला खड़ा किया
हवालात में
'क' खुश था
इन हालात में—
'चलो अच्छा हुआ
रोटी का कुछ तो सिलसिला हुआ।'

— — —

सीखचों से घिरा
'क' चिन्तन के कई
सागर तिरा
और कुछ विचार-रत्न लिए
पहुंचा जब वह अदालत
तो लोगों ने कहा—
'लो, आ गया वह सिरफिरा'
न्यायालय के चपरासी ने
जब उसका नाम टेरा
तो उसने भरी सभा में
अपने विचार-रत्नों को
यूं बखेरा—

"पृथ्वी की उत्पत्ति कैसे हुई—
झूठे हैं सब सिद्धान्त, शास्त्र
तर्क और विज्ञान
सच तो यह है श्रीमान् !
कोई करोड़पति अपने हाथ में
चेक बुक लिये आया होगा
और उत्पादक—
बकौल मेरी दादी के ब्रह्मा
और बकौल मेरे भूगोल अध्यापक
सूर्य को
सोते से जगाया होगा— और-
मुँह माँगी कीमत देकर
बनवा ली होगी पृथ्वी अपनी
इच्छानुसार....
कुछ नकद.... कुछ उधार।"

— — —

न्यायाधीश ने मुँह बनाया—
सरकारी वकील ने दुहाई दी—
न्याय की—
"वक्तव्य नितान्त असंगत, असम्बद्ध है,
इसे फाइल में शुमार न किया जाय
यो' र ऑनर !"

— — —

अपने गंजाये सिर पर
हाथ फेर कर 'क' ने फिर कहा—
"फाइल में न सही,
अगर हो सके तो इसे
स्कूली किताबों में
शुमार कर लिया जाय
क्योंकि यह सत्य है
सौ फीसदी
तो क्यों न जान ले
इसे आने वाली सदी ?"

— — —

एक हंगामा सा उठ खड़ा हुआ
अदालत में
न्याय का ऐसा सरासर और
दिन दहाड़े अपमान
लोग मेजें पीटने लगे
और कुर्सियाँ पटकी जाने लगीं
तब विवश हो
'न्यायमूर्ति' ने अदालत
अगले दिन के लिए
स्थगित कर दी।



समझदारी

तुम ही नहीं,
दुनिया भर के सभी समझदार यही बात कहते हैं
'सवाल उठाना बड़ी नायाब चीज है।'
मगर कल जब मुझे अपनी
रोटी में से
कुछ सवाल झाकते नजर आये
तो मैंने आँख बन्द कर
जल्दी-जल्दी रोटी खा ली
क्योंकि सवालों से
आँख मिलाने का मतलब होता,
भूखे रहना।
मुझे कोई समझदार कृपया यह
बताये कि
क्या उनके साथ भी
कभी ऐसा हादसा गुजरा है?
या फिर दुनिया में
सिर्फ मैं ही एक
ग़ैर समझदार हूँ।

□

अफसोस

अफसोस !
इस भरी भीड़ में मेरे पास तुम्हारे लिए
कोई सम्बोधन नही है
क्योंकि तुम अध्यक्ष भी नही हो
और जनता भी नही हो
याने कि तुम
मंच भी नही हो और
जाजम भी नहीं हो
फिर भी तुम्हारे
होने का अहसास
बड़ा तीखा, पैना और उभरा हुआ है
जिसे मैं नकार नहीं सकता
मैं इसे बार-बार
स्वीकारने को मुद्रा बनाता हूँ
किन्तु समय की कुटिल और कृपण भौंह
जो पूरे समूह के चेहरे पर
चिपकी हुई है
मुझे रोकती है
मेरी ही आवाज मुझे टोकती है
और मुझे एक कविता लिखनी पड़ती है।
अफसोस !
इस भरी भीड मे ……….।

